

# सृष्टि के प्रति सहिष्णु दृष्टि की जरूरत



**गिरीश्वर मिश्र**

कुलपति, महात्मा गांधी  
अंतर्राष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय



**जी**वन कैसे जिएं? उसका लक्ष्य क्या हो? वह किन मूल्यों के प्रति समर्पित हो? ये प्रश्न सबके मन में उठते हैं। ये प्रश्न सिर्फ समृद्धि से नहीं, बल्कि मानव स्वभाव या प्रकृति की हमारी अपनी समझ से भी जुड़े हुए हैं। आजकल व्यक्ति, समुदाय और देश हर स्तर पर जीवन की गुणवत्ता की बात अक्सर की जाती है। इस विचार के साथ मनुष्य के लिए कल्याण की अवस्था का संकेत देने वाले विभिन्न तत्वों को पहचानने का काम भी शुरू हुआ। परंतु भौतिक, सामाजिक, शैक्षिक और आर्थिक संसाधनों की आपूर्ति संतोषदायी है या नहीं, यह हर किसी के अपने निजी मूल्यांकन के मानदंड से जुड़ा प्रश्न है। इनका संबंध व्यक्ति द्वारा अपने जीवन में संतुष्टि और प्रसन्नता की अनुभूति से जुड़ा हुआ है और उसके पैमाने सबके लिए एक से नहीं हुआ करते।

जीवन की गुणवत्ता को लेकर किया जाने वाला विचार-विमर्श ज्यादातर जरूरतों के पूरा होने की मात्रा पर केंद्रित हुआ करता है। हमारे मनोरथ- इच्छाएं, आकांक्षाएं तो अनंत होती हैं। उनका कोई ओर-छोर नहीं होता। उनकी पूर्ति निजी अहं की क्षणिक या कहे तात्कालिक तुष्टि होती है। वह अहं के साम्राज्य पर टिकी होती है। आज व्यक्ति के सुख और संतुष्टि की अनुभूति में समाज या समुदाय के सरोकार गौण होते जा रहे हैं। हम न उनके योगदान का स्मरण करते हैं न ही उनके लिए अपने योगदान की कोई खास प्रासंगिकता या उत्साह का मकसद ढूँढ पाते हैं। व्यक्ति और समाज के बीच का धागा कमजोर पड़ने लगा है।

यह तय करना एक मुश्किल पहली है कि क्या आज हमारी जिंदगी पहले से बेहतर है। विकास का सपना बेचा जाता रहा और भौतिक सुख-समृद्धि को जीवन की गुणवत्ता का मूल आधार बनाया गया। उपभोग करने की शक्ति ही प्रगति का पैमाना बन गई। तथाकथित विकसित देशों में सुख इस अर्थ में है कि वहां भौतिक समृद्धि की बहुतायत है, अधिकाधिक उपभोग का अवसर है। साथ ही यंत्रों-उपकरणों का जाल इतना प्रभावी कि शरीर-

श्रम की आवश्यकता घटती जा रही है और फालतू या आराम का समय बढ़ता जा रहा है। पर यह तथ्य भी हमें नहीं भुलाना चाहिए कि वहां सामाजिक और मानसिक असंतुलन, विकार और व्याधियां भी बेतहाशा बढ़ रही हैं।

भारत की स्थिति विचित्र है। यहां गरीबी और सामाजिक विषमता भी है और साथ ही औद्योगीकरण, पश्चिमीकरण, नगरीकरण और आधुनिकीकरण भी है। जहां एक ओर मलिन बस्तियां (स्लम) हैं, वहीं विशाल अट्टालिकाएं भी हैं। भौतिकता और उपभोक्तावाद को ही आगे बढ़ने का अकेला रास्ता मानकर हम सब उसी पूर दौड़ पड़े हैं। हमारी जरूरतों की फेहरिस्त, जिसमें जरूरी कम और गैर जरूरी ज्यादा



**जब हमारी सोच व्यक्तिकेंद्रित होती है तो समाज और प्राकृतिक संसाधन सब कुछ साधन बन जाता है और नैतिक मानदंड धरे के धरे रह जाते हैं।**

है, लंबी होती जा रही है। दिखावा और अनावश्यक आडंबर और पाखंड हमारे सामाजिक जीवन के खास हिस्से बनते जा रहे हैं। दूसरी ओर सामाजिक सुरक्षा, पारस्परिक भरोसा और सांस्कृतिक बोध वायरा सीमित - संकुचित हुआ है। नैतिक क्षरण भी हो रहा है और आर्थिक मूल्यों की प्रधानता बढ़ी है। कुल मिलाकर उपयोगितावादी दृष्टि ही प्रमुखता पा रही है। बाजार प्रमुख सत्ता केंद्र हो रहा है। उत्पादन और उपभोग ही जीवन का सर्वस्व बन सबका ध्यान आकृष्ट कर रहे हैं। इसके चलते प्रकृति ही बलि वेदी पर चढ़ रही है। पृथ्वी, जल और वायु सभी को विकृत और प्रदूषित किया जा रहा है बिना यह सोचे कि पिछली पीढ़ी ने जो हमें सौंपा था उसका कौन सा भाग हम बचाकर आने वाली पीढ़ी को दे सकेंगे। जब हमारी सोच व्यक्तिकेंद्रित होती है तो समाज और प्राकृतिक संसाधन सब कुछ साधन बन जाता है और नैतिक मानदंड धरे के धरे रह जाते हैं। आज जीवन की कहानी कुछ ऐसी ही लिखी जा रही है। ■■

# व्यक्तिगत समाचार

शुक्रवार, 4 दिसंबर 2015